अप्रेल १९८८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

अध्यापक - संगोष्ठी - १९८७

गवं ते तरमानानं, जिम्हं गच्छति पुङगवो।
सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति, नेत्ते जिम्हं गते सति॥

गवं ते तरमानानं, उजुं गच्छति पुङगवो।
सब्बा गावी उजुं यन्ति, नेत्ते उजुं गते सति॥

-- राजोवादजातक

यदि नदी पार करते समय गाएं यह देखती हैं कि उनके आगे २ चलने वाला बैल टेढ़ा-टेढ़ा होकर चलता है तो वे भी टेढ़ा-टेढ़ा होकर चलने लगती हैं और यदि यह देखती हैं कि उनके आगे २ चलने वाला बैल सीधा-सीधा चलता है तो वे भी उसकी देखादेखी सीधा-सीधा चलने लगती हैं।

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के ट्रस्टी तथा प्रसिद्ध उद्योगपति श्री श्याम सुन्दर तापड़िया की मान्यता है कि यदि हम वयस्क विभिन्न परिस्थितियों में धैर्य प्रदर्शित करते हैं तो हमारे बच्चे भी धैर्यवान् बनने लगते हैं, यदि हम अधीरता प्रदर्शित करते हैं तो वे भी अधीर बनने लगते हैं; यदि हम जिम्मेदारियां निभाते हुए चलते हैं तो वे भी जिम्मेदार बनने लगते हैं; यदि हम गैर-जिम्मेदारी का सबूत देते रहते हैं तो वे भी इसी का अनुकरण करने लगते हैं; यदि हम पक्षपात करने लगते हैं तो वे भी यही सीख लेते हैं; और यदि हम अहंभाव प्रदर्शित करते हुए चलते हैं तो बच्चों को भी यह दुर्गुण अपनाने में क्या देर लगती है?

इन्सानियत का पाठ –

श्री तापड़िया का यह भी मानना है कि बच्चे सबसे अधिक अध्यापकों से ही प्रभावित हो सकते हैं क्योंकि बच्चों के उपयोगी समय का लगभग आधा भाग उन्हीं के पास पढ़ने-लिखने अथवा उनके द्वारा बताए गए गृहकार्य को करने में व्यतीत होता है। अतः बच्चों को सही दिशा में विकसित करने की जिम्मेदारी अध्यापक की ही मानी जा सकती है। इसके लिए उन्हें प्रशिक्षण भी दिलाया जाता है। अतः माता-पिता का आवश्यक सहयोग प्राप्त करके इस नई पीढ़ी के बच्चों को अच्छा इन्सान बनाने की जिम्मेदारी अध्यापक की है। पर अध्यापक यह जिम्मेदारी निभा नहीं सकता जब तक कि वह स्वयं अच्छा इन्सान न बन जाय। तो मूल प्रश्न यही रहा कि अध्यापक अच्छा इन्सान कैसे बने?

अच्छे इन्सान की पहचान है अच्छा, स्वस्थ मन। यदि किसी का मन अस्वस्थ हो, याने कि विकारों से ग्रस्त हो, तो वह व्यक्ति अच्छा इन्सान नहीं बन सकता। क्योंकि बात-बात में क्रोध करेगा, भयातुर हो उठेगा, वासना में जलने लगेगा, द्वेष जगाता रहेगा, उद्विग्न बना रहेगा। तो अगला प्रश्न यह कि इन विकारों से कैसे छुटकारा पाया जाये जिससे कि अच्छे इन्सान बन सके।

मन की सफाई –

स्वनामधन्य सयाजी ऊ बा खिन का कथन है कि मन का अपना स्वभाव निर्मल बने रहने का है परन्तु अकुशल कर्म करके हम इसे मैला बना डालते हैं। फिर भी जैसे समुद्र के खारे पानी का वाष्पीकरण एवं सँहननीकरण करके इसका शोधन किया जा सकता है वैसे ही विपश्यना साधना से चित्त के दोषों को दूर करके इसे नितान्त निर्मल बना सकते हैं।

एक केस-स्टडी –

इस साधना से चित्त में निर्मलता कैसे आने लगती है इसकी मिसाल बम्बई की प्रसिद्ध शिक्षा-कोविदा श्रीमती साराह पारेख ने अपनी १४ वर्षीय पुत्री संगीता की केस-स्टडी प्रस्तुत करते हुए दी है। यह बालिका मद्रास की किसी आवासीय पाठशाला में आठवीं कक्षा में पढ़ती है। यह जन्म से बहरी, हृदयरोग तथा राजयक्ष्मा से पीड़ित और भय से आक्रान्त है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इसकी आठ बार सर्जरी हुई है। फिर भी यह वर्तमान में अनेक बाधाओं में से गुजर रही है, यथा मूत्राशय का ठीक से काम न करना, स्थायी कब्ज, स्नायवीय दुर्बलता, निद्रा-ह्रास और इनके साथ-साथ जन्मजात बहरापन।

अप्रेल १९८७ में इस बालिका ने १० दिवस का विपश्यना शिविर लिया। निपट बहरेपन के कारण इसे साधना-सम्बन्धी सभी निर्देश लिख कर दिए जाते थे और यह अपने प्रश्न एवं कठिनाइयां भी लिख कर ही प्रस्तुत करती थी। इसने तीसरे दिन एक सूची तैयार की जिसमें "मेरे अन्तर्मन की समस्याएं" शीर्षक के नीचे अपनी निम्नांकित समस्याओं का उल्लेख किया: -

(१) मैं आनन-फानन गुस्से में भर कर चिल्लाने लगती हूं अथवा दूसरों को तकलीफ पहुंचाने के लिए अपशब्द प्रयोग में लाती हूं। (२) मैं कभी-कभी लोगों से घृणा करने लगती हूं और नहीं चाहती कि वे मुझे छुएं या प्यार करें। (३) मैं बड़ों की बात नहीं सुनना चाहती (४) मैं बहुत ज्यादा खाती हूं, अपने को रोक नहीं पाती। (५) मैं बहुत वाचाल हूं, दूसरों की बात नहीं सुन सकती। (६) मेरा मन बहुत चंचल है। स्थिर नहीं रहता। (७) मैं आसानी से चीजों को समझ नहीं पाती। (८) मैं अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख पाती। (९) मैं प्रायः डर जाती हूं। (१०) मैं कभी-कभी बहुत आलस में डूब जाती हूं। (११) कभी-कभी मेरे मन में भद्दे विचार आने लगते हैं। (१२) मुझे आसानी से नींद नहीं आती। मैं देर रात तक जागती रहती हूं और प्रातः जल्दी उठ नहीं पाती।

इस सूची को पढ़ने से स्पष्ट होगा कि जिस प्रकार की समस्याओं से संगीता जूझ रही थी उनका उसके रोगों से कोई सम्बन्ध नहीं था। ये समस्याएं तो हम सब के, और विशेषकर किशोरावस्था को लांघने वाले छात्र-छात्राओं के, सामने आती हैं। यही मन का मैल है जो हमें हमारी क्षमताओं का प्रचुर उपयोग करने में बाधक बना रहता है।

शिविर के नौंवे दिन संगीता ने एक नई सूची तैयार की जिसकी भूमिका में लिखा –

"अब मैंने निर्णय किया है कि मैं बुरी आदतें छोड़ दूंगी और इनके स्थान पर अच्छी आदतें अपनाऊंगी। मैं भविष्य में –

(१) छोटी-छोटी बातों के लिए क्रोध नहीं करूंगी। (२) बेचैन होने आलस में डूब जाने अथवा गलत चिन्तन करने के स्वभाव को पलटूंगी। (३) अपनी बातचीत और खाने-पीने की आदतों को सुधारूंगी। (४) बड़ों की बात सुनने का प्रयास करूंगी। (५) अपने आप को नियन्त्रित करने की चेष्टा करूंगी। (६) भयभीत नहीं होऊंगी। (७) लोगों को समझाने और प्रेम करने का यत्न करूंगी; इत्यादि।"

* दो माह बाद इसी बालिका ने एक अन्य शिविर लिया। उस शिविर में सहायक आचार्य से लिख कर पूछती है – "क्या मैं गुरूजी बन सकती हूं?"

एक १४ वर्ष की किशोरी नौ दिन में अपने जीवन के बारे में स्वयं ही ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय कर पाने में कैसे समर्थ हो गई? विपश्यना में ऐसा क्या जो उसे इस योग्य बनाया? लेखिका के मत में संगीता ही क्या, हर किसी को निम्नांकित पांच प्रकार से अपने आप को पहचानने में

विपश्यना सहायक होती है:-

(१) अपने स्वयं के व्यवहार को साक्षीभाव से देखना आ जाता है। (२) शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को समताभाव से देखने से विचारों की उदीर्णा होकर निर्जरा होने लगती है। (३) अपने बारे में सच्चाई की खोज स्वयं करने से साधक के मन में बहुत आत्म-विश्वास जागता है। (४) एक ऐसा तकनीक हाथ लग जाता है जिससे प्रतिकूल व्यक्तियों, घटनाओं, परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रया न करके मानस के स्वभाव को बदल सकते हैं। (५) साधक का ध्यान अपने जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं पर केन्द्रित होने लगता है।

इस प्रकार विपश्यना साधना छात्र-छात्राओं, अध्यापिकाओं और जिस किसी के मानस से क्रोध, भय, ईर्ष्या, वासना, द्वेष आदि दुर्गुण दूर करके उन्हें समाज का जिम्मेदार सदस्य बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

स्वर्ग---- खोया, पायाः-

उच्च विद्यालय की अध्यापिका श्रीमती सरला बाविशि ने बतलाया है कि विपश्यना साधना से मेरे जीवन में अध्यापिका के रूप में निम्नांकित परिवर्तन आए हैं :-

(१) ट्यूशन पढ़ाने से पहले आधा घण्टा ध्यान कर लेने से मन सम्बन्धित विषय में समाहित हो जाता है। (२) जो विषय बड़े नीरस लगते थे उनमें भी रस आने लगा है (३) मैं कभी-कभी बच्चों के प्रति बहुत कठोरता का व्यवहार करती थी –उन्हें झिड़कती, सजा देती, रुलाती और अन्त में स्वयं रोने लगती। अब मेरा स्वभाव शान्त होने लगा है। (४) मैं छात्राओं से कहा करती थी –"तुम्हें अमुक-अमुक काम करने होंगे। अगली बार कक्षा में आने से पहले इसे करके आना।" अब मैं कहती हूं- "तुम्हें अमुक-अमुक काम करने चाहिए। पूरा प्रयत्न करो और कोई कठिनाई हो तो अगली बार कक्षा में पूछ लेना।" (५) मेरे पढ़ाने के तौर-तरीके का परिमार्जन हुआ है। (६) मेरी अन्तर्दृष्टि प्रखर हुई है। अब मुझे पता चल जाता है कि छात्राओं की शारीरिक और मानसिक क्षमता कितनी है, अतः मैं उन्हें घर का काम उसी हिसाब से देती हूं। (७) अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी मैं समता में रहती हूं।

अन्त में श्रीमती बाविशि ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा है कि विपश्यना से पहले मुझे अपना जीवन ऐसे लगता था मानो "स्वर्ग हाथ से निकल चुका है", अब ऐसे लगता है मानो "स्वर्ग को फिर से पा लिया है।"

"जीवन जीने की कला" हाथ लग गई –

फ्रांस देश के अध्यापक एवं शिक्षक गी दुबॉय छः वर्षों से विपश्यना का अभ्यास कर रहे हैं। इनके कथनानुसार इनके देश में यदि कोई अध्यापक टेलीविजन से अधिक दिलचस्प न हो तो छात्र उसके लिए बहुत सिरदर्द पैदा कर देते हैं। जब ऐसा होने लगता है तब अध्यापक में पढ़ाने का सारा उत्साह समाप्त हो जाता है और उसका दृष्टिकोण नकारात्मक बन जाता है। इसके फलस्वरूप वह सदैव अपने बचाव के लिए सुरक्षा-भीत खड़ा करने में ही लगा रहता है। इससे उसका अध्यापन-कार्य ठण्डा पड़ जाता है और वह इसे रुटीन की तरह चलाता रहता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वह सिरदर्द से बचने के लिए मादक पदार्थों का सेवन करने लग जाता है। फ्रांस में अनेक मनोवैज्ञानिक केन्द्र खुले हुए हैं जो ऐसे अध्यापकों का उपचार विशेष रूप से करते हैं जो अधयापन -कार्य से पैदा होने वाले तनाव को नहीं सह पाते।

उक्त साधक-अध्यापक ने दूसरों में दोष खोजने की बजाय समस्या की जड़ तलाश करने का निश्चय किया और उसकी यह खोज उसे विपश्यना तक ले आई। उसे पहले ही शिविर में स्पष्ट होने लगा कि उसका दु:ख उसके अनुमान से अधिक है। छात्रों के प्रति सद्भावना होते हुए भी वह अनजाने में छात्रों पर अपने अन्तर्द्वन्द बिखेरता रहता है जो कि उसकी भूतकाल की विफलताओं और हीनभाव के कारण होता है। वह उनके सामने यह स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता था कि उससे भी गलती हुई हो या वह किसी मामले में अनजान रहा हो। अतः जैसे-तैसे वह उन पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा में ही लगा रहता। विपश्यना के सतत अभ्यास से उसका अहंभाव पिघलने लगा। अपने आप को कम श्रेष्ठ मानने से उसकी कक्षा का वातावरण ही बदल गया। उसमें तथा छात्रों में आपसी विश्वास जागने लगा। छात्र खुलकर अपनी कठिनाइयां उसके सामने लाने लगे और वह अपनी क्षमतानुसार उन्हें हल करने लगा। इस प्रकार इन दोनों के बीच की खदान भरने लगी। अध्यापक के मन से "अतिमान" की भावना और छात्रों के मन से "अवमान" की भावना समाप्त होने लगी। अध्यापक स्वीकार करता है कि विपश्यना से उसे "जीवन जीने की कला" हाथ लग गई है।

मानवीय सम्बन्धों में निखार––

यदि किसी शिक्षण संस्थान में विपश्यी साधक ही अध्यापन का कार्य करें तो इससे कितने अच्छे परिणाम सामने आते हैं इसका उल्लेख स्व. सयाजी ऊ बा खिन के लेख में हुआ है। उन्होंने बतलाया है कि ब्रम्हदेश में लेखापालों और लेखालिपिकों की बहुत कमी को देखते हुए वहां के शासन ने सन् १९५८ में "राजकीय लेखा एवं अंड्केक्षण संस्थान" की स्थापना की और उन्हें इसका पहला प्रधानाचार्य नियुक्त किया। ऐसे संस्थानों में अध्यापकों को छात्रों के प्रति असाधारण संवेदनशीलता और सद्भावना प्रदर्शित करना नितान्त आवश्यक होता है। इस संस्थान में उप-प्रधानाचार्य तथा अधिकांश प्रवक्ता उन्हें नियुक्त किया गया जिन्होंने विपश्यना साधना का अभ्यास कर रखा था। छात्रों के प्रति इनकी असीम मैत्री का यह परिणाम हुआ कि इनके बारे में छात्रों की ओर से कभी कोई शिकायत प्रस्तुत नहीं हुई। इसके विपरीत हर सत्र के अन्त में छात्रों की ओर से प्रधानाचार्य तथा प्रवक्ताओं के सम्मान में सामूहिक भोज का आयोजन किया जाता रहा और इस अवसर पर वे शिक्षकवर्ग की दयालुता और परिश्रम की भूरि -भूरि सराहना ही करते पाए जाते। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस साधना से मानवीय सम्बन्धों में कैसे निखार आने लगता है।

अन्दर का "हिटलर"

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की हार्वड यूनिवर्सिटी से संस्कृत में पी. एच. डी तथा मांट्रीयल, कनाडा में १४ वर्ष तक अध्यापन-रत डॉ. श्रीमती अलका हाजिब अगेरा का कथन है कि नई पीढ़ी के चरित्र-निर्माण में विपश्यना की भूमिका बहुत अहम है। हर बालक के अन्दर एक "हिटलर" छिपा हुआ है जो उसे दूसरों की तुलना में "सर्वश्रेष्ठ" सिद्ध करने पर तुला रहता है। इसमें दोष हमारा ही है क्योंकि हम बचपन से ही बच्चों में अलगाव के भाव भरने लगते हैं कि वे अमुक राष्ट्र के निवासी हैं जो सर्वश्रेष्ठ है, वे अमुक धर्म वस्तुतः सम्प्रदाय को मानने वाले हैं जो सर्वश्रेष्ठ है, वे अमुक भाषा बोलते हैं जो सर्वश्रेष्ठ है, वे अमुक प्रकार का पहरावा पहनते हैं जो सर्वश्रेष्ठ है, वे अमुक रंग-रूप के हैं जो सर्वश्रेष्ठ है, इत्यादि। इस प्रकार बीज तो अलगाव के बोते रहते हैं परन्तु ऊपर-ऊपर से कहते हैं- "सब मानव समान हैं।"

वस्तुतः बच्चों के लिए हमारा पहला पाठ "एक " से आरम्भ होना चाहिए, न कि "अनेक " से। फिर शनैः-शनैः यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि क्योंकर "एक " होते हुए भी विभिन्न परिस्थितियों में हम अनेक राष्ट्रों, सम्प्रदायों, भाषाओं, पहरावों से सम्बद्ध हो जाते हैं अथवा अनेक रंग-रूप वाले हो जाते हैं।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दोष –

वस्तुतः नई पीढ़ी की शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल सुधार की आवश्यकता है। सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के

संस्थापक-अध्यक्ष, प्रसिद्ध उद्योगपति एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्री श्रीराम तापड़िया का कथन है कि व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए पांच मानक होते हैं – शारीरिक, बौद्धिक, सांवेदिक, मानसिक और आध्यात्मिक। मौजूदा शिक्षा-पद्धति ने अपना सरोकार पहले दो से ही - और वह भी आंशिक रूप में रखा है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष से देश में अपरिपक्व नवयुवकों की भरमार होती जा रही है।

विपश्यना के सहायक आचार्य एवं प्रसिद्ध उद्योगपति श्री लक्ष्मीनारायण राठी का भी कहना है कि यदि वास्तव में छात्र-छात्राओं को "नई पीढ़ी" के रूप में देखना चाहते हैं तो इनके शिक्षण की ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे ये ज्ञानोपार्जन भी कर सके और इसके साथ-साथ भय तथा अन्य विकारों से भी मुक्त रहें।